

अड्डे पर कविता

बस भूखी प्यासी अड्डे के पिछले हिस्से में आ गई है
लोगबाग जल्दी से पेशाब कर रहे हैं
परिवेश गद्य का मुझे है कविता की प्यास

बैठे-बैठे हो रही बोरियत, याद आ रहे तीस साल पुराने डर
हालांकि पापा मेरे नहीं दूसरी ओर बैठे बच्चे के उतरे हैं

सोचते सोचते दो चार पैसों के हिसाब में उलझा है मन
धत् तेरी की अचानक ही कहती है कविता
और मैं प्यार करता हूं उसे,

वापस आ रहे हैं लोग
बस चल पड़ी है
अड्डे पर कविता हाथ हिला रही है

- प्रगतिशील वसुधा - मार्च 2005

एक और औरत

एक और औरत हाथ में साबुन लिए उल्लास की पराकाष्ठा पर है
गद्दे वाली कुर्सी पर बैठ कर एक औरत कामुक निगाहों से ताक रही है
इशतहार से खुली छातियों वाली औरत मुझे देखती मुस्कराती है
एक औरत फोन का डायल घुमा रही है और मैं सोचता हूँ वह मेरा ही नंबर मिला रही है

मां छः घंटों बस की यात्रा कर आई है
मां मुझसे नहीं मिल सकती, होस्टल में रात को औरत का आना मना है।

- प्रगतिशील वसुधा - मार्च 2005

घर और बाहर

घर के आज़ाद तनाव में बाहर नहीं आ सकता
घर ही घर पकती खिचड़ी, होते विस्फोट, खेल-खेल में खेल
बाहर घर में एक ओर से आकर दूसरी तरफ निकल जाता है
घर बचा रहता अकेला, सिमटा हुआ
सिमटते हुए उसे दिखता बाहर
घर ही घर दिखती दुनिया रंगीन मटमैली

बाहर बसंत
घर कभी गर्म, कभी ठंडा
सही गलत के निरंतर गीत गाए जाते घर में।

कभी-कभी धरती अपनी धुरी से ज़रा सी भटकती है, विचलित होता है घर
कभी ज़मीं से ऊपर सोचने को कितना कुछ है उसके पास
घर ऊब चुका होता है नियमबद्ध दिनचक्र से
घर चाहता है एक बार सही हो तांडव, दिन बने रात, रात में चौंधियाए प्रकाश

बाहर घर को छोड़ देता है उसकी उलझनों में
घर ही घर लिखे जाते हैं रात और दिन के समीकरण
फिर कालबैसाखी के बादल आ घेरते हैं घर को
गहरे समुद्र में डुबकियां लगातार सोचता है घर
वह कितना होना चाहता है आज़ाद

- प्रगतिशील वसुधा - मार्च 2005

जीवन

उसकी अठखेलियां थीं टूटी पंखुड़ियों सी बिखरी हुई
कुहासे के पार उसकी उंगलियां मन छू रहीं
जाड़े की धूप को अभी आना था
सुकून जो मिलना था उसमें थी बेचैनी
आसमान को नहीं होना था आस्मान

यह जरूरी नहीं था खयाल आए उसका
अंजाने में ही इधर-उधर हम
प्रवासी पाखी सा छोड़ दिया था किसी के पास
फिर भी खयाल आते बुरे अधिकतर

पहले उसकी मुस्कान थी या उसके शब्द
चुलबुली वह
जब वह गई कुहासा घना इतना कि खुद को देखना मुश्किल
सतरंगा बिखराव फैल रहा था तकलीफ की बारिश सा

इसके बाद टूटे नल से बहता पानी
खुला खाली आस्मान
प्यार जा चुका था अपनी सतह छोड़ बची थी सतह की मुस्कान

- प्रगतिशील वसुधा - मार्च 2005

पेड़ों को गर्मी नहीं लगती क्या?

पेड़ों को गर्मी नहीं लगती क्या

मैं घर में था।
बिजली गई घर से भागा।
दफ्तर आया।
वहाँ कौन बना सुभागा।
छुट्टी के दिन।
इधर भी गर्मी, उधर भी गर्मी।
और खिड़की के बाहर।
पेड़ खड़े यूँ सहजधर्मी।।

कोई न भेद जात-पात का।
बरगद, अशोक, नीम वगैरह।
बड़े मजे से सभी देख रहे।
गर्मी में मेरा यूँ रोना।।

सूख सूख पत्ते पीले हो जाएँगे।
पर इसी बात से खुश कि,
जल्दी हम गीले हो जाएँगे।
मुझे न मिलता चैन।
परेशान दिन बेचैन रैन।
यह गर्मी कब जाएगी।
कब ठण्डी हवाएँ आएँगी।।

झल्लाता हूँ देख-देख।
पेड़ों को गर्मी नहीं लगती क्या?

- चकमक, जून 1999

डायरी के पन्नों से

1 मार्च 2002

एक

सुबह से लगातार बारिश।

भीगी ठंड।

है भी पर अवांछित किस्म की तपिश।

दफ्तर के काम हैं, बाल भी कटवाने हैं

अहमदाबाद में बढे हुए बाल कहां कटेंगे?

जो बाल जल जाते हैं, उनके बारे में चारू और विनय

ई-मेल में लिखेंगे। चारू विनय, तुम ठीक हो न?

दो

सौ आदमी चार घंटों में पचास आदमी जलाते हैं

हजार आदमी छीनेंगे कितने सपने चार दिनों में?

कितनों को नंगा करेंगे? कितनों पर डालेंगे तेजाब?

कितनी सूचनाएं आएंगी?

कितनी शिलाओं पर कितने खून के धब्बों की?

कितने अयोध्या हैं मेरे देश में?

सोमवार को बेटा का गणित का पर्चा है।

काँपी पर कलम बना रही तस्वीरें।

तीन

उनकी कोशिशों को मैं हास्यस्पद दौर मानता रहा

हर सुबह नींद टूटती कर्ण विदारक स्तुतियों से।

हिमालय के जंगलों में भी मौजूद थे वे।

मैंने माना कि यह हिटलर का युग नहीं और

बसंत के स्वागत में उड़ाता रहा पतंग।

घुप्प अंधेरे भूकंप के झटकों ने जगाया मुझे।

उन्होंने पहाड़ों पर लगा दी आग।

आग के समंदर में डूब रहे जाने-पहचाने लोग।

हारने से पहले आखिरी हंसी हंस रहा था हिटलर।

मनस्थिति

उन्हीं इलाकों से वापस गुजरना है
वहीं से गुजरते हुए
देखना है वही पेड़, वही गुफाएं

आंखें बूढ़ी हुईं
पेट बूढ़ा हुआ
रहा अभागा मन
तलाशता वहीं जीवन

चार दिनों में कोई लिखता
हरे मटर की कविता
मैं बार-बार शब्द वही ढूंढता
बार-बार हूं छवि वही देखता

इन गुजरते पड़ावों पर
अब सवारी नहीं रुकती
बहुत दूर आ चुका हूँ
वहीं रख आया मन
वही ढूंढता चाहता मगन

-अक्षरपर्व

आकांक्षा

मन

हो इतने कुशल

गढ़ने न हों कृत्रिम अमूर्त कथानक

चढ़ना उतरना

बहना होना

हंसना रोना इसलिए

कि ऐसा है जीवन

हो इतने चंचल

जो गुजरों तो फूटे

हँसी की धार

हर दो आँख कल-कल

डरना तो डरे जो कुछ भी जड़

प्रहरियों की सुरझा में भी

डरे अकड़

खिलो हर दूसरा खिले साथ

बढ़ो बढ़े हर प्रेमी की नाक

हर बात की बात

बढ़े हर जन

ऐसा ही बन

कुछ बनना ही है

तो ऐसा ही बन

-अक्षरपर्व

कब से

अँधेरे में
दो छोटी मोमबत्तियाँ
आधी जलीं
पतंगों से खिलवाड़ करती चलीं

एक रेत पर बैठी हाथ लहरा रही
लहरें उमड़ती आ रहीं
दूसरी बैठी उसे एक टक निहार रही

एक की लौ इस वक्त आसमान
दूसरी नाच रही मदमत्त
साथ हवा सां-सां

लौ, लपटें और बहाव
कब से, कब से!

-अक्षरपर्व